385

॥ श्रीहरिः ॥

नारद-भक्ति-सूत्र
एवं
शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र

[सरल भाषानुवादसहित]

गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रकाशक—**गोबिन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर**

मूल्य—

मुद्रक—**गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५**
दूरभाष : (०५५१) ३३४७२१, फैक्स : ३३६९९७
e-mail : **gitapres@ndf.vsnl.net.in**
Visit us at : www.gitapress.org

ॐ

नारद-भक्ति-सूत्र
सरल भाषानुवादसहित

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः॥ १॥

१-अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे।

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥ २॥

२-वह (भक्ति) ईश्वरके प्रति परम प्रेमरूपा है।

अमृतस्वरूपा च॥ ३॥

३-और अमृतस्वरूपा (भी) है।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥ ४॥

४-जिसको (परम प्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा भक्तिको) पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है (और) तृप्त हो जाता है।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न

द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति॥ ५॥

५-जिसके (प्रेमस्वरूपाभक्तिके) प्राप्त होनेपर मनुष्य न किसी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे (विषय-भोगोंकी प्राप्तिमें) उत्साह होता है।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति॥ ६॥

६-जिसको (परम प्रेमरूपा भक्तिको) जानकर ही मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध (शान्त) हो जाता है (और) आत्माराम बन जाता है।

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्॥ ७॥

७-वह (प्रेमा भक्ति) कामनायुक्त नहीं है; क्योंकि वह निरोधस्वरूपा है।

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः॥ ८॥

८-लौकिक और वैदिक (समस्त) कर्मोंके त्यागको निरोध कहते हैं।

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च॥ ९॥

९-उस प्रियतम भगवान्‌में अनन्यता और उसके

प्रतिकूल विषयमें उदासीनताको भी निरोध कहते हैं।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता॥ १०॥

१०-(अपने प्रियतम भगवान्‌को छोड़कर) दूसरे आश्रयोंके त्यागका नाम अनन्यता है।

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता॥ ११॥

११-लौकिक और वैदिक कर्मोंमें भगवान्‌के अनुकूल कर्म करना ही उसके प्रतिकूल विषयोंमें उदासीनता है।

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्॥ १२॥

१२-(विधि-निषेधसे अतीत अलौकिक प्रेम प्राप्त करनेका मनमें) दृढ़ निश्चय हो जानेके बाद भी शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिये। अर्थात् भगवदनुकूल शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये।

अन्यथा पातित्याशङ्कया॥ १३॥

१३-नहीं तो गिर जानेकी सम्भावना है।

लोकोऽपि तावदेव किन्तु भोजनादि-व्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि॥ १४॥

१४-लौकिक कर्मोंको भी तबतक (बाह्यज्ञान

रहनेतक) विधिपूर्वक करना चाहिये। पर भोजनादि कार्य जबतक शरीर रहेगा तबतक होते रहेंगे।

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्॥ १५॥

१५-अब नाना मतोंके अनुसार उस भक्तिके लक्षण कहते हैं।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥ १६॥

१६-पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्‌की पूजा आदिमें अनुराग होना भक्ति है।

कथादिष्विति गर्गः॥ १७॥

१७-श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्‌की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥ १८॥

१८-शाण्डिल्य ऋषिके मतमें आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना ही भक्ति है।

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥ १९॥

१९-परन्तु देवर्षि नारदके (हमारे) मतमें अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही

भक्ति है।

अस्त्येवमेवम्॥ २०॥

२०-ठीक ऐसा ही है।

यथा व्रजगोपिकानाम्॥ २१॥

२१-जैसे व्रजगोपियोंकी (भक्ति)।

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः॥ २२॥

२२-इस अवस्थामें भी (गोपियोंमें) माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका अपवाद नहीं।

तद्विहीनं जाराणामिव॥ २३॥

२३-उसके बिना (भगवान्‌को भगवान् जाने बिना किया जानेवाला ऐसा प्रेम) जारोंके (प्रेमके) समान है।

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्॥ २४॥

२४-उसमें (जारके प्रेममें) प्रियतमके सुखसे सुखी होना नहीं है।

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥ २५॥

२५-वह (प्रेमरूपा भक्ति) तो कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है।

फलरूपत्वात्॥ २६॥

२६-क्योंकि (वह भक्ति) फलरूपा है।

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्य-प्रियत्वाच्च॥ २७॥

२७-ईश्वरका भी अभिमानसे द्वेषभाव है और दैन्यसे प्रियभाव है।

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके॥ २८॥

२८-उसका (भक्तिका) साधन ज्ञान ही है, किन्हीं (आचार्यों)-का यह मत है।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये॥ २९॥

२९-दूसरे (आचार्यों)-का मत है कि भक्ति और ज्ञान परस्पर एक-दूसरेके आश्रित हैं।

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः*॥ ३०॥

३०-ब्रह्मकुमारोंके (सनत्कुमारादि और नारदके) मतसे भक्ति स्वयं फलरूपा है।

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात्॥ ३१॥

३१-राजगृह और भोजनादिमें ऐसा ही देखा जाता है।

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा॥ ३२॥

* पाठभेद 'ब्रह्मकुमारः'।

३२-न उससे (जान लेनेमात्रसे) राजाकी प्रसन्नता होगी, न क्षुधा मिटेगी।

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः॥ ३३॥

३३-अतएव (संसारके बन्धनसे) मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवालोंको भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिये।

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः॥ ३४॥

३४-आचार्यगण उस भक्तिके साधन बतलाते हैं।

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च॥ ३५॥

३५-वह (भक्ति-साधन) विषयत्याग और सङ्गत्यागसे सम्पन्न होता है।

अव्यावृतभजनात्॥ ३६॥

३६-अखण्ड भजनसे (भक्तिका साधन) सम्पन्न होता है।

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्॥ ३७॥

३७-लोकसमाजमें भी भगवद्गुणश्रवण और कीर्तनसे (भक्ति-साधन) सम्पन्न होता है।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥ ३८॥

३८-परन्तु (प्रेमभक्तिकी प्राप्तिका साधन) मुख्यतया

(प्रेमी) महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे होता है।

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च॥ ३९॥

३९-परन्तु महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥ ४०॥

४०-उस (भगवान्)-की कृपासे ही (महापुरुषोंका) सङ्ग भी मिलता है।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्॥ ४१॥

४१-क्योंकि भगवान्‌में और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम्॥ ४२॥

४२-(अतएव) उस (महत्सङ्ग)-की ही साधना करो, उसीकी साधना करो।

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः॥ ४३॥

४३-दुःसङ्गका सर्वथा ही त्याग करना चाहिये।

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाश-कारणत्वात्॥ ४४॥

४४-क्योंकि वह (दुःसङ्ग) काम, क्रोध, मोह,

स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश एवं सर्वनाशका कारण है।

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति॥ ४५॥

४५-ये (काम-क्रोधादि) पहले तरङ्गकी तरह (क्षुद्र आकारमें) आकर भी (दुःसङ्गसे विशाल) समुद्रका आकार धारण कर लेते हैं।

कस्तरति कस्तरति मायाम्? यः सङ्गांस्त्यजति, यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति॥ ४६॥

४६-(प्रश्न) कौन तरता है? (दुस्तर) मायासे कौन तरता है? (उत्तर) जो सब सङ्गोंका परित्याग करता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है और जो ममतारहित होता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोक-बन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति॥ ४७॥

४७-जो निर्जन स्थानमें निवास करता है, जो लौकिक बन्धनोंको तोड़ डालता है, जो तीनों गुणोंसे परे हो जाता है और जो योग तथा क्षेमका परित्याग कर देता है।

यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि संन्यस्यति,

ततो निर्द्वन्द्वो भवति॥ ४८॥

४८-जो कर्मफलका त्याग करता है, कर्मोंका भी त्याग करता है और तब सब कुछ त्याग कर जो निर्द्वन्द्व हो जाता है।

वेदानपि संन्यस्यति, केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते॥ ४९॥

४९-जो वेदोंका भी भलीभाँति परित्याग कर देता है और जो अखण्ड, असीम भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेता है।

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति॥ ५०॥

५०-वह तरता है, वह तरता है, वह लोगोंको तार देता है।

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ ५१॥

५१-प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है।

मूकास्वादनवत्॥ ५२॥

५२-गूँगेके स्वादकी तरह।

प्रकाशते* क्वापि पात्रे॥ ५३॥

५३-किसी बिरले योग्य पात्रमें (प्रेमी भक्तमें) ऐसा प्रेम प्रकट भी होता है।

* पाठभेद 'प्रकाश्यते'।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ ५४॥

५४-यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति,* तदेव चिन्तयति॥ ५५॥

५५-इस प्रेमको पाकर प्रेमी इस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है।

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा॥ ५६॥

५६-गौणी भक्ति गुणभेदसे अथवा आर्तादि-भेदसे तीन प्रकारकी होती है।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति॥ ५७॥

५७-(उनमें) उत्तर-उत्तर-क्रमसे पूर्व-पूर्व- क्रमकी भक्ति कल्याणकारिणी होती है।

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ॥ ५८॥

५८-अन्य सबकी अपेक्षा भक्ति सुलभ है।

* किसी-किसी प्रतिमें 'तदेव भाषयति' नहीं है।

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयं-प्रमाणत्वात्॥ ५९॥

५९-क्योंकि भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है, इसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च॥ ६०॥

६०-भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा है।

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्म-लोकवेदत्वात्*॥ ६१॥

६१-लोकहानिकी चिन्ता (भक्तको) नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह (भक्त) अपने-आपको और लौकिक, वैदिक (सब प्रकारके) कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण कर चुका है।

न तदसिद्धौ† लोकव्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव॥ ६२॥

६२-(परन्तु) जबतक भक्तिमें सिद्धि न मिले तबतक लोकव्यवहारका त्याग नहीं करना चाहिये, किन्तु फल त्यागकर (निष्कामभावसे) उस भक्तिका

* पाठभेद 'लोकवेदशीलत्वात्'।

† पाठभेद 'तत्सिद्धौ' है।

साधन करना चाहिये।

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं* न श्रवणीयम्॥ ६३॥

६३-स्त्री, धन, नास्तिक और वैरीका चरित्र नहीं सुनना चाहिये।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्॥ ६४॥

६४-अभिमान, दम्भ आदिका त्याग करना चाहिये।

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभि-मानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्॥ ६५॥

६५-सब आचार भगवान्‌के अर्पण कर चुकनेपर यदि काम, क्रोध, अभिमानादि हों तो उन्हें भी उस (भगवान्)-के प्रति ही करना चाहिये।

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ता-भजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम्, प्रेमैव कार्यम्॥ ६६॥

६६-तीन (स्वामी, सेवक और सेवा) रूपोंको भङ्गकर नित्य दासभक्तिसे या नित्य कान्ताभक्तिसे प्रेम ही करना चाहिये, प्रेम ही करना चाहिये।

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः॥ ६७॥

६७-एकान्त (अनन्य) भक्त ही श्रेष्ठ हैं।

* पाठभेद 'स्त्रीधननास्तिकचरित्रम्'।

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च॥ ६८॥

६८-ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥ ६९॥

६९-ऐसे भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र कर देते हैं।

तन्मयाः॥ ७०॥

७०-(क्योंकि) वे तन्मय हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥ ७१॥

७१-(ऐसे भक्तोंका आविर्भाव देखकर) पितरगण प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथा हो जाती है।

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधन-क्रियादिभेदः॥ ७२॥

७२-उनमें (भक्तोंमें) जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिका भेद नहीं है।

यतस्तदीयाः ॥ ७३ ॥

७३-क्योंकि (भक्त सब) उनके (भगवान्‌के) ही हैं।

वादो नावलम्ब्यः ॥ ७४ ॥

७४-(भक्तको) वाद-विवाद नहीं करना चाहिये।

बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च ॥ ७५ ॥

७५-क्योंकि (वाद-विवादमें) बाहुल्यका अवकाश है और वह अनियत है।

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि ॥ ७६ ॥

७६-(प्रेमा भक्तिकी प्राप्तिके लिये) भक्तिशास्त्रका मनन करते रहना चाहिये और ऐसे कर्म भी करने चाहिये जिनसे भक्तिकी वृद्धि हो।

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम् ॥ ७७ ॥

७७-सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदिका (पूर्ण)

त्याग हो जाय ऐसे कालकी बाट देखते हुए आधा क्षण भी (भजन बिना) व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये।

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि ॥ ७८ ॥

७८-(प्रेमा भक्तिके साधकको) अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारोंका भलीभाँति पालन करना चाहिये।

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः ॥ ७९ ॥

७९-सब समय, सर्वभावसे निश्चिन्त होकर (केवल) भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये।

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान् ॥ ८० ॥

८०-वे भगवान् (प्रेमपूर्वक) कीर्तित होनेपर शीघ्र ही प्रकट होते हैं और भक्तोंको अपना अनुभव करा देते हैं।

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ॥ ८१ ॥

८१-तीनों (कायिक, वाचिक, मानसिक) सत्योंमें (अथवा तीनों कालोंमें सत्य भगवान्‌की) भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है।

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपाधाप्येका एकादशधा भवति ॥ ८२ ॥

८२-यह प्रेमरूपा भक्ति एक होकर भी १ गुणमाहात्म्यासक्ति, २ रूपासक्ति, ३ पूजासक्ति, ४ स्मरणासक्ति, ५ दास्यासक्ति, ६ सख्यासक्ति, ७ कान्तासक्ति, ८ वात्सल्यासक्ति, ९ आत्मनिवेदनासक्ति, १० तन्मयतासक्ति और ११ परमविरहासक्ति—इस प्रकारसे ग्यारह प्रकारकी होती है।

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः ॥ ८३ ॥

८३-कुमार (सनत्कुमारादि), वेदव्यास, शुकदेव,

शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान्, विभीषण आदि भक्तितत्त्वके आचार्यगण लोकोंकी निन्दा-स्तुतिका कुछ भी भय न कर (सब) एकमतसे ऐसा ही कहते हैं (कि भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है)।

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति ॥ ८४ ॥

८४-जो इस नारदोक्त शिवानुशासनमें विश्वास और श्रद्धा करते हैं, वे प्रियतमको पाते हैं, वे प्रियतमको पाते हैं।

श्रीराधाकृष्णाभ्यां नमः

शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र

(मुनिवर शाण्डिल्यद्वारा विरचित भक्ति-सूत्र)

प्रथम अध्याय

प्रथम आह्निक

अथातो भक्तिजिज्ञासा॥ १॥

१—अब भक्ति-तत्त्वका विचार किया जाता है।

सा परानुरक्तिरीश्वरे॥ २॥

२—वह (भक्ति) ईश्वरके प्रति परम अनुरागरूपा है। (इसे ही पराभक्ति कहा गया है।)

तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्॥ ३॥

३—क्योंकि ईश्वरमें जिसकी संस्थिति (सम्यक् निष्ठा—भक्ति) है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है, ऐसा श्रुतिका उपदेश है।* (अतः भक्तिकी जिज्ञासा

* **ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।** (छा० उ० २। ३। २)।

आवश्यक है।)

ज्ञानमिति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थितेः॥ ४॥

४—संस्थाका अर्थ ज्ञान है, अतः वह भक्ति ज्ञानरूप है, ऐसा कहें तो? यह ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञान तो द्वेष रखनेवाले शत्रुको भी होता है, किंतु वह ज्ञातव्य व्यक्तिके प्रति उसकी निष्ठा (भक्ति)-का बोधक नहीं होता। (अतः भक्ति ज्ञानरूप नहीं है।)

तयोपक्षयाच्च॥ ५॥

५—तथा भक्ति (-के उदय होने)-से ज्ञानका क्षय होता है। (इसलिये भी भक्ति और ज्ञानकी एकता नहीं है।)

तब भक्ति अनुरागरूप ही है इसमें प्रमाण ?

द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः॥ ६॥

६—द्वेषकी विरोधिनी तथा रस* शब्दसे प्रतिपाद्य होनेके कारण भी भक्ति रागस्वरूपा है।

न क्रिया कृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत्॥ ७॥

* **रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति** (तै० उ० २। ७)। **रसवर्जं रसोऽप्यस्य।** (गीता २। ५९)।

७—भक्ति क्रियारूप नहीं है, क्योंकि ज्ञानकी भाँति वह भी कर्ताके प्रयत्नकी अपेक्षा नहीं रखती।

अत एव फलानन्त्यम्॥ ८॥

८—इसीलिये भक्तिका फल अनन्त है।

तद्वतः प्रपत्तिशब्दाच्च न ज्ञानमितर-प्रपत्तिवत्॥ ९॥

९—ज्ञानवान्‌का भी शरणागत होना बतलाया गया है;* अतः शरणागति (भक्ति) ज्ञानरूप नहीं है; जैसे सकाम अज्ञानी कामनावश अन्य देवताकी शरण लेते हैं† किन्तु उनकी वह प्रपत्ति (शरणागति) ज्ञानरूप नहीं है, उसी प्रकार भगवच्छरणागति भी ज्ञानसे भिन्न है।

प्रथम आह्निक सम्पूर्ण

* **ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।** (गीता ७। १९)।

† **कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।** (गीता ७। २०)

द्वितीय आह्निक

सा मुख्येतरापेक्षितत्वात्॥ १०॥

१०—वह भक्ति मुख्य है; क्योंकि ज्ञानयोगादि इतर साधन उसकी अपेक्षा रखते हैं (अन्य साधन अङ्ग हैं और भक्ति अङ्गी है)।

प्रकरणाच्च॥ ११॥

११—(छान्दोग्यके) प्रकरणसे* भी (भक्तिकी ही मुख्यता सिद्ध होती है) (क्योंकि वहाँ रतिरूपा भक्तिका ही फल स्वाराज्य-सिद्धि) बतायी गयी है।

* प्रकरण इस प्रकार है, छान्दोग्योपनिषद्‌में मन्त्र है—

आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। (७। २५। २)

अर्थात् 'यह सब कुछ परमात्मा ही है; जो ऐसा देखता, ऐसा मानता और ऐसा समझता है, वह परमात्मामें परम अनुराग, परमात्मामें ही क्रीडा, उन्हींके संयोगका सुख तथा उन्हींमें आनन्दका अनुभव करता हुआ स्वराट् (परमात्मस्वरूप) हो जाता है।' इसमें दर्शन, मनन एवं ज्ञान आदि साधन आत्मरतिरूपा भक्तिके अङ्ग हैं, यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

दर्शनफलमिति चेन्न तेन व्यवधानात्॥ १२॥

१२—यदि कहें, वहाँ दर्शनका ही फल (स्वाराज्य) बताया गया है, अत: प्रकरण भी उसीका है, तो ठीक नहीं; क्योंकि '**स स्वराड् भवति**' (वह परमात्मास्वरूप हो जाता है) इस वाक्यके '**स:**' (वह) पदसे समीपवर्ती '**आत्मरति:**' पदका ही ग्रहण होता है; दूरवर्ती '**एवं पश्यन्**' का नहीं; क्योंकि वहाँ उससे ('**आत्मरति:**' आदि पदसमूहसे) व्यवधान पड़ता है। (अत: वहाँ दर्शनका नहीं, आत्मरतिरूपा भक्तिका ही फल स्वाराज्य-सिद्धि है।)

दृष्टत्वाच्च॥ १३॥

१३—लोकमें ऐसा ही देखा भी गया है।

(अर्थात् किसीके रूपका दर्शन, गुणका श्रवण या स्वरूपका परिचय पहले प्राप्त होता है और उसके प्रति अनुराग पीछे होता है। अत: दर्शन या ज्ञानका फल प्रीति है, प्रीतिका फल ज्ञान नहीं; इसलिये ज्ञान अङ्ग है और भक्तिकी ही मुख्यता है।)

अत एव तदभावाद्वल्लवीनाम्॥ १४॥

१४—क्योंकि ज्ञान अप्रधान है और भक्ति ही

प्रधान है; अतएव ज्ञानका अभाव होनेपर भी केवल परमानुरागरूप भक्तिसे ही गोपाङ्गनाओंकी मुक्ति हो गयी। (ऐसा पुराणोंमें वर्णन आता है।*)

भक्त्या जानातीति चेन्नाभिज्ञप्त्या साहाय्यात्॥ १५॥

१५—'**भक्त्या मामभिजानाति**' (गीता १८।५५)— भक्तिसे मुझे भलीभाँति जानता है; इस वचनके अनुसार भक्ति ही साधन और ज्ञान ही साध्य है, ऐसा कहें तो? यह ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ '**अभिजानाति**' कहा गया है। अभिपूर्वक '**ज्ञा**' धातुका अर्थ है अभिज्ञा; अभिज्ञा कहते हैं पहलेकी जानी हुई वस्तुके ज्ञानको। पहले ज्ञान हुआ फिर फलरूपा भक्ति हुई। वह भक्ति ही अभिज्ञप्तिरूपसे पूर्वज्ञानका स्मरण कराकर स्वयं ही जीवके भगवत्प्रवेशमें सहायक होती है।

प्रागुक्तं च॥ १६॥

* **मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।**
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापन:॥
(श्रीमद्भा० १०। ८२। ४५)

१६—पहले ब्रह्मज्ञान होता है, फिर भक्ति, यह बात पहलेके श्लोकमें कही भी गयी है।*

एतेन विकल्पोऽपि प्रत्युक्त:॥ १७॥

१७—ज्ञान अङ्ग है और भक्ति अङ्गी, ऐसा निश्चय होनेसे इन दोनोंके विकल्प-पक्ष (और समुच्चयवाद)-का भी खण्डन हो गया।†

देवभक्तिरितरस्मिन् साहचर्यात्॥ १८॥

१८—(श्वेताश्वतरोपनिषद्में) गुरु-भक्तिके साथ पठित होनेके कारण देवविषयक भक्ति भी ईश्वरभिन्न

* **ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।**
सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(गीता १८। ५४)

† ज्ञान अथवा भक्ति दोनों ही अङ्ग और दोनों ही अङ्गी हैं; किसीको भी प्रधान या गौण माननेमें आपत्ति नहीं है; ऐसी मान्यता 'विकल्प' है। जब एकको प्रधानता निश्चित हो गयी, तब दूसरा अप्रधान है ही। प्रधान और अप्रधान—अङ्गी और अङ्गमें 'विकल्प' नहीं होता। ज्ञान और भक्ति दोनों एक साथ रहकर ही मुक्तिके साधन होते हैं, यह समुच्चयवाद है; उक्त निश्चयसे इसका भी निराकरण हुआ।

देवताकी भक्तिका बोधक है।*

योगस्तूभयार्थमपेक्षणात् प्रयाजवत्॥ १९॥

१९—योग तो ज्ञान और भक्ति दोनोंका साधन है; क्योंकि दोनोंमें उपकारक होनेके कारण उसकी अपेक्षा रहती है। यद्यपि योग मुख्यत: ज्ञानका अङ्ग है, तथापि जब ज्ञान भी भक्तिका अङ्ग है, तब उसीके साथ योग भी उसका अङ्ग हो सकता है; जैसे वाजपेय आदिका अङ्गभूत प्रयाज उसकी दीक्षा लेनेवाले व्यक्तिकी दीक्षाका भी अङ्ग माना जाता है।

गौण्या तु समाधिसिद्धि:॥ २०॥

२०—'**ईश्वरप्रणिधानाद् वा**' इस योगसूत्रमें जो '**प्रणिधानाद्**' आया है, वह गौणी भक्तिके अन्तर्गत है, उस गौणी भक्तिसे ही समाधिकी सिद्धि होती है।

हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत्॥ २१॥

२१—यदि भक्ति रागरूपा है तो योगशास्त्रोक्त पाँच क्लेशोंमें परिगणित 'राग' में तथा इसमें कोई

* **यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।**
(श्वेता० ६। २३)

अन्तर नहीं है, ऐसी दशामें मुमुक्षुके लिये यह रागस्वरूपा भक्ति भी त्याज्य ही होगी, ऐसा कहें तो ठीक नहीं; क्योंकि इस रागका आश्रय उत्तम है—ईश्वरविषयक रागको भक्ति कहते हैं; अत: वह त्याज्य नहीं है। विषय-राग ही त्याज्य है। जैसे सङ्गको त्यागनेयोग्य बताया गया है; किंतु कुसङ्गका ही त्याग उचित माना गया है, सत्सङ्गका नहीं; क्योंकि संत-महात्मा सङ्गके उत्तम आश्रय हैं।

तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्य-शब्दात्॥ २२॥

२२—अत: भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है, यह बात निश्चित हुई; क्योंकि भगवान्‌ने कर्मी, ज्ञानी तथा योगी—इन सबकी अपेक्षा भक्तको ही श्रेष्ठ बताया है।*

प्रश्ननिरूपणाभ्यामाधिक्यसिद्धेः॥ २३॥

२३—(गीताके बारहवें अध्यायमें) अर्जुनके प्रश्न

* **तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।**
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गीता ६। ४६-४७)

और भगवान्‌के उत्तरसे भी भक्तकी ही श्रेष्ठता सिद्ध होती है।

नैव श्रद्धा तु साधारण्यात्॥ २४॥

२४—श्रद्धारूप ही भक्ति है, ऐसा नहीं मानना चाहिये; क्योंकि श्रद्धा साधारणतया कर्ममात्रकी अङ्गभूत है (किंतु ईश्वरभक्ति ऐसी नहीं है)।

तस्यां तत्त्वे चानवस्थानात्॥ २५॥

२५—यदि श्रद्धाको भक्तिरूप मानें तो अनवस्थादोष आता है।* इसलिये श्रद्धा भक्तिसे भिन्न है।

ब्रह्मकाण्डं तु भक्तौ तस्यानुज्ञानाय सामान्यात्॥ २६॥

२६—श्रुतिमें जो ब्रह्मकाण्ड (ब्रह्मतत्त्वके निरूपणका प्रकरण) है, वह भक्तिके लिये ही है, ज्ञानके लिये

* भगवान्‌ने गीतामें कहा है, '**श्रद्धावान् भजते यो माम्**' (जो श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है ··········) इस प्रकार श्रद्धाको भक्तिका अङ्ग बताया है। यदि श्रद्धा और भक्ति एक है तो उसके अङ्गरूपसे आयी हुई श्रद्धा क्या है; यदि यह भी भक्तिरूप ही है तो उसका अङ्ग भी दूसरी श्रद्धा हो सकती है; इस प्रकार यह परम्परा कहीं भी रुक नहीं सकती है; यही अनवस्थादोष है।

नहीं; क्योंकि जैसे ब्रह्मकाण्ड अज्ञात अर्थका ज्ञान कराता है, उसी प्रकार जो शेष दो काण्ड हैं, वे भी अज्ञात अर्थका ज्ञान कराते हैं। इस दृष्टिसे सभी काण्ड समान हैं। (यदि इतनेसे ही कोई ब्रह्मकाण्डको ज्ञानकाण्ड कह दे, तब तो धर्मज्ञान करानेवाले कर्मकाण्डको भी ज्ञानकाण्ड नाम दिया जा सकता है) अत: भक्तिके लिये ब्रह्मकाण्डका आरम्भ होनेके कारण उसे 'भक्तिकाण्ड' भी मानना चाहिये।

द्वितीय आह्निक सम्पूर्ण

प्रथम अध्याय सम्पूर्ण

द्वितीय अध्याय

प्रथम आह्निक

बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत्॥ २७॥

२७—बुद्धि (ब्रह्मज्ञान)-के हेतुभूत श्रवण-मनन आदि साधनोंमें तबतक लगे रहना चाहिये जबतक कि अन्त:करण शुद्ध न हो जाय; जैसे '**व्रीहीन् अवहन्ति**' (धान कूटे) इस शास्त्र-वाक्यके अनुसार धानपर तबतक मूसलका आघात करना आवश्यक होता है, जबतक कि सारी भूसी अलग न हो जाय।

तदङ्गानां च॥ २८॥

२८—ब्रह्मज्ञानके हेतुभूत जो श्रवण-मननादि साधन हैं, उनके अङ्गभूत गुरुसेवन, शास्त्र-विचार तथा शम-दमादि साधनोंका भी अन्त:करणकी शुद्धि होनेतक अनुष्ठान करते रहना चाहिये।

तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात्॥ २९॥

२९—आचार्य कश्यप ऐसा मानते हैं कि बुद्धि जब एकमात्र परमेश्वरका ही आश्रय लेती है, तभी

वह मोक्षदायिनी होती है; क्योंकि परमेश्वर सब जीवोंसे परे है। (इनके मतमें परमेश्वर और जीवात्मामें सर्वथा भेद है।)

आत्मैकपरां बादरायणः॥ ३०॥

३०—आचार्य बादरायण (वेदव्यास) केवल चिद्घन आत्माका आश्रय लेनेवाली बुद्धिको ही मोक्षदायिनी मानते हैं।* (इनके मतमें एकमात्र विशुद्ध चित्सत्ता ही परमार्थ वस्तु है; परमात्मा और जीवात्माका भेद कल्पित है, वास्तविक नहीं।)

उभयपरां शाण्डिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम्॥ ३१॥

३१—शाण्डिल्य वेद-वाक्य तथा युक्तिके आधारपर ब्रह्म तथा जीवात्मा दोनोंका आश्रय लेनेवाली बुद्धिको मुक्तिदायिनी स्वीकार करते हैं।†

---

* **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति चेति।**

(ब्र० सू० ४। १। ३)

† **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। ....एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्............एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः।'**

(छा० उ० ३। १४। १—४)

वैषम्यादसिद्धमिति चेन्नाभिज्ञानवदवैशिष्ट्यात्॥ ३२॥

३२—दोनों (ब्रह्म और जीव)-में समानता न होनेके कारण बुद्धि उन दोनोंका ही आश्रय लेगी, यह सिद्ध नहीं होता, यदि ऐसा कहें तो ठीक नहीं; क्योंकि यह वही है, इस प्रत्यभिज्ञा (पहचान) बुद्धिके द्वारा जैसे 'यह' और 'वही' की एकता होती है, उसी प्रकार जो ब्रह्म है, वही जीवरूपमें स्थित है, ऐसी बुद्धि होनेसे दोनोंमें विषमता नहीं रहती (शाण्डिल्यके मतमें भी जीव और ब्रह्मकी एकता ही है)।

न च क्लिष्टः परः स्यादनन्तरं विशेषात्॥ ३३॥

३३—ब्रह्म और जीवकी एकता माननेपर भी जीवोपाधिधारी आत्माके जो क्लेश आदि हैं, वे परमेश्वरका स्पर्श नहीं कर सकते; क्योंकि चिदंशमें

यह शब्दप्रमाण है। युक्ति यह है कि ब्रह्म परमेश्वररूपसे वर्णित है और जीवरूपसे भी। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।' (तै० उ० ३। २। १) इसमें परमेश्वररूपसे उसका वर्णन हुआ है और 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।' (गीता १५। ७) इत्यादिमें जीवरूपसे।

अभेद-निर्णयके पश्चात् भी क्लेश आदिका सम्बन्ध जीवात्मासे ही है; और यही परमात्मासे जीवका अन्तर सिद्ध करता है; ऐसा निश्चय हो सकता है।

ऐश्वर्यं तथेति चेन्न स्वाभाव्यात्॥ ३४॥

३४—यदि कहें, परमेश्वरमें जेसे क्लेश आदि बाधित होते हैं, उसी प्रकार ऐश्वर्य भी बाधित हो सकता है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐश्वर्य तो ईश्वरका स्वभाव है (अतः उसका बाध नहीं हो सकता)।

अप्रतिषिद्धं परैश्वर्यं तद्भावाच्च नैवमितरेषाम्॥ ३५॥

३५—श्रुतिमें कहीं भी परमेश्वरके ऐश्वर्यका निषेध नहीं किया गया है। (अपितु उसमें ऐश्वर्यको स्वाभाविक कहा गया है।) इसी प्रकार जीवोंके ब्रह्मभावका प्रतिपादन होनेके कारण उनके लिये भी क्लेश आदिका होना स्वाभाविक नहीं (आगन्तुक ही) है।

सर्वानृते किमिति चेन्नैवं बुद्ध्यानन्त्यात्॥ ३६॥

३६—सब जीवोंकी क्रमशः मुक्ति होनेपर जब सब प्रकारकी बुद्धियोंका लय हो जाता है, तब परमात्माकी पर-उपाधिके भी बनी रहनेका कोई

प्रयोजन न होनेसे उसका भी आत्यन्तिक लय हो जायगा; फिर उनमें स्वाभाविक ऐश्वर्य रहकर क्या होगा? ऐसा कहें तो ठीक नहीं; क्योंकि जीवोपाधिक बुद्धियाँ अनन्त हैं (अतः ऐसा कोई काल ही नहीं है, जब सभी बुद्धियोंका लय हो जाय)।

प्रकृत्यन्तरालादवैकार्यं चित्सत्त्वेनानुवर्तमानात्॥ ३७॥

३७—(यदि परमेश्वरमें कर्तृत्वरूप ऐश्वर्य मानें तो वह विकारी होगा। इसके उत्तरमें कहते हैं—) परमेश्वर प्रकृति (मायाशक्ति)-को बीचमें डालकर सृष्टि करता है, अतः जड-प्रपञ्चकी उपादानभूत प्रकृतिमें ही विकार है; परमेश्वर तो अविकारी ही है। वह अपनी चित्सत्तासे प्रकृतिमें अनुगत है; इसीसे उसमें कर्तृत्वरूप ऐश्वर्य तो है, परंतु विकृति नहीं है।

तत्प्रतिष्ठा गृहपीठवत्॥ ३८॥

३८—(यदि प्रकृति या मायाद्वारा ही जगत्की सृष्टि होती है, तब तो उसीमें यह जगत् प्रतिष्ठित है; फिर यह कैसे कहा जाता है कि **'तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्'**—ब्रह्ममें ही सारा जगत् प्रतिष्ठित है? इस

शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—) प्रकृति या मायाका आश्रय भी ब्रह्म ही है, अत: उसमें प्रतिष्ठित जगत्‌को ब्रह्ममें प्रतिष्ठित माननेमें कोई आपत्ति नहीं है; जैसे घरमें पीढ़ा या चौकी रखी है और उसपर कोई मनुष्य बैठा है तो भी उसके लिये यह कहा जाता है कि वह घरमें बैठा है।

मिथोऽपेक्षणादुभयम्॥ ३९॥

३९—सृष्टि-कार्यमें ब्रह्म तथा प्रकृति दोनों एक-दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं, अत: दोनों ही उसके कारण हैं।

चेत्यचितोर्न तृतीयम्॥ ४०॥

४०—चेत्य और चित् (ज्ञेय और ज्ञातारूप प्रकृति एवं पुरुष)-से भिन्न कोई तीसरा पदार्थ (जगत्‌में) नहीं है।

युक्तौ च सम्परायात्॥ ४१॥

४१—प्रकृति और पुरुष (जड और चेतन) अनादि कालसे परस्पर संयुक्त हैं।*

* **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**
(गीता १३। १९)

शक्तित्वान्नानृतं वेद्यम्॥ ४२॥

४२—वेद्य अर्थात् ज्ञेय प्रकृति मायारूप होनेके कारण सर्वथा मिथ्या है, ऐसा नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वह ब्रह्मकी शक्ति मानी गयी है।

तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिङ्गेभ्य:॥ ४३॥

४३—भक्तिकी परिशुद्धि (दृढ़ता एवं निर्मलता)-का ज्ञान लौकिक प्रीतिकी भाँति बाह्य चिह्नोंसे होता है। (जैसे लोकमें प्रियतमकी चर्चासे प्रियाके पुलक-अश्रुपात आदि होते देख उसकी आन्तरिक प्रीति पहचानी जाती है, उसी प्रकार भगवत्कथा-श्रवण, नाम-कीर्तन आदिमें रोमाञ्च, अश्रुपात आदि चिह्न देखकर विशुद्ध एवं दृढ़ भक्तिका अनुमान करना चाहिये।)

सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्यातितदर्थप्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्॥ ४४॥

४४—अर्जुनकी भाँति भगवान्‌के प्रति सम्मानकी बुद्धि, इक्ष्वाकुकी भाँति भगवत्सदृश नाम या वर्णके प्रति अधिक आदर (उसके दर्शनसे भगवत्प्रेमका

उदय होना), विदुर आदिकी भाँति भगवान् या भगवद्भक्तके दर्शनसे प्रीति, गोपीजनोंकी भाँति भगवान्‌के विरहकी अनुभूति, उपमन्यु तथा श्वेतद्वीपवासियोंके समान भगवद्भिन्न वस्तुओंसे स्वभावत: अरुचि होना, भीष्म एवं व्यास आदिकी तरह निरन्तर भगवान्‌की महिमाका वर्णन, व्रजवासियों तथा हनुमान्‌जीकी भाँति भगवान्‌के लिये जीवन धारण करना, बलि आदिकी भाँति मैं तथा मेरा सब कुछ भगवान्‌का ही है, यह भाव रखना, प्रह्लादजीकी तरह सबमें भगवद्भाव होना, भीष्म, युधिष्ठिर आदिकी भाँति कभी भगवान्‌के प्रतिकूल आचरण न करना आदि बहुत-से भक्तिसूचक चिह्न स्मृतियों (इतिहास-पुराणोंके वर्णन)-से भी प्राय: लक्षित होते हैं।

द्वेषादयस्तु नैवम्॥ ४५॥

४५—स्वामीके प्रति अनुराग रखनेवाले सेवकोंमें तो स्वामीके अनुग्रहकी न्यूनाधिकता होनेपर उसके प्रति द्वेष तथा ईर्ष्या आदि भाव भी प्रकट होते हैं, क्या ये भी प्रेम या भक्तिके ही चिह्न हैं? नहीं; भगवान्‌के भक्तोंमें इस प्रकार द्वेष आदि नहीं

प्रकट होते।*

यद्वाक्यशेषात् प्रादुर्भावेष्वपि सा॥ ४६॥

४६—भगवान्‌के अवतार-विग्रहोंके प्रति भी जो भक्ति होती है, वह पराभक्ति ही है; गीतामें भगवान्‌का ऐसा ही वाक्यशेष है (पहले देवभक्तोंको देवताओंकी प्राप्ति बताकर अन्तमें अपने भक्तोंको अपनी प्राप्ति बतायी है—गीता ७। २३)।

जन्मकर्मविदश्चाजन्मशब्दात्॥ ४७॥

४७—भगवान्‌के जन्म-कर्मका रहस्य जाननेवाले पुरुषका भी जन्म नहीं होता, ऐसा भगवान्‌ने श्रीमुखसे प्रतिपादन किया है। (गीता ४। ९)

तच्च दिव्यं स्वशक्तिमात्रोद्भवात्॥ ४८॥

४८—भगवान्‌का जन्म और कर्म दिव्य है (जीवशरीरकी भाँति कर्मफलके अधीन तथा पञ्चभूतोंसे निर्मित नहीं है); क्योंकि वह भगवान्‌की योगमाया-

* प्रमाण यह है—
न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मति:।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे॥
(महा० अनु० १४०। १३५)

शक्तिसे प्रकट हुआ है (अतः अप्राकृत एवं चिन्मय है। अहंकार और फलासक्तिसे रहित होनेके कारण उनका प्रत्येक कर्म भी दिव्य है)।

मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्॥ ४९॥

४९—उनके जन्म-ग्रहणमें जीवोंके प्रति उनकी अहैतुकी कृपा ही मुख्य कारण है।

प्राणित्वान्न विभूतिषु॥ ५०॥

५०—('मनुष्योंमें मैं राजा हूँ।' (गीता १०। २७) इस भगवद्वचनके अनुसार राजा आदि विभूतियोंको भगवद्रूप कहा गया है, अतः उनके प्रति की हुई भक्ति भी मोक्ष देनेवाली होनी चाहिये; इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—) विभूतियोंके प्रति की हुई भक्ति पराभक्ति नहीं है (वह पराभक्तिका साधनमात्र हो सकती है); क्योंकि वे प्राणधारी जीव हैं। (जीवोपाधिसे रहित परमेश्वरविषयक भक्ति ही परा भक्ति कहलाती है।)

द्यूतराजसेवयोः प्रतिषेधाच्च॥ ५१॥

५१—धर्मशास्त्रोंमें द्यूतसेवन तथा राजाकी सेवाका निषेध किया है; अतः इससे भी वे पराभक्तिके आश्रय नहीं सिद्ध होते हैं। (यदि वे ईश्वररूपसे उपासनीय होते तो उनके सेवनका निषेध नहीं किया जाता।)

वासुदेवेऽपीति चेन्नाकारमात्रत्वात्॥ ५२॥

५२—यदि कहें, वासुदेवकी भी तो विभूतियों-में ही गणना है (गीता १०। ३७); अतः राजा आदिकी भाँति वे भी भजनीय नहीं सिद्ध होंगे तो ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि भगवान् वहाँ आकारमात्रसे ही वसुदेवपुत्र एवं मनुष्य हैं, वास्तवमें तो साक्षात् परब्रह्म विष्णु ही हैं।*

प्रत्यभिज्ञानाच्च॥ ५३॥

५३—भगवान् वासुदेव (श्रीकृष्ण)-की विष्णुरूपताके विषयमें प्रत्यभिज्ञा (पूर्व अनुभवकी स्मृति) भी उपलब्ध होती है।†

* उनके विषयमें ऐसा ही शास्त्रप्रमाण है—

यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते।
यत्रावतीर्णं विष्ण्वाख्यं परं ब्रह्म नराकृति॥

(विष्णु० ४। ११। २)

'**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**' (श्रीमद्भा० १। ३। २८) इत्यादि।

† मार्कण्डेयजी युधिष्ठिरसे कहते हैं—'मैंने प्रलयकालमें जिन परमेश्वर बालमुकुन्दका दर्शन किया था, वे ही आपके सम्बन्धी श्रीकृष्ण हैं'—

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः।
स एव पुरुषव्याघ्रः सम्बन्धी ते जनार्दनः॥

(महा० वन० १८९। ५२)

वृष्णिषु श्रैष्ठ्येन तत्॥ ५४॥

५४—यदुवंशियोंमें वे सबसे श्रेष्ठ हैं, यही बतानेकी दृष्टिसे विभूति-वर्णनके प्रसंगमें 'वासुदेव' का नाम भी लिया गया है। (जैसे १२ सूर्योंमें विष्णुको विभूति कहा गया है (गीता १०। २१), परंतु वे विभूतिमात्र ही नहीं हैं, साक्षात् परमेश्वर हैं; आदित्योंमें विष्णु नामक आदित्य ही सर्वश्रेष्ठ हैं, इतना ही प्रतिपादन करनेके लिये वहाँ उनका नाम आया है।)

एवं प्रसिद्धेषु च॥ ५५॥

५५—इसी प्रकार साक्षात् विष्णुरूपसे प्रसिद्ध जो रामभद्र वामन आदि अवतारविग्रह हैं, उनके प्रति की हुई भक्ति भी मुक्तिदायिनी पराभक्ति ही है, ऐसा जानना चाहिये।

प्रथम आह्निक सम्पूर्ण

द्वितीय आह्निक

भक्त्या भजनोपसंहाराद्गौण्या परायैतद्धेतुत्वात्॥ ५६॥

५६—(गीता ९। १४, २९ आदि श्लोकोंमें*) भक्ति-पदसे भजनका उपसंहार होनेके कारण वहाँ गौणी भक्तिसे ही तात्पर्य है; क्योंकि गौणी भक्ति पराभक्तिकी प्राप्तिमें हेतु है।

रागार्थप्रकीर्त्तिसाहचर्याच्चेतरेषाम्॥ ५७॥

५७—(गीता ११। ३६ में) कीर्तनसे भगवान्के प्रति अनुराग होनेकी बात कही गयी है; अतः जैसे कीर्तन अनुरागमें हेतु होता है, उसी प्रकार उसके साहचर्यसे भगवन्नाम-श्रवण-वन्दन आदि जो अन्य भजन-प्रकार हैं, वे भी अनुरागरूप पराभक्तिकी प्राप्ति करानेवाले हैं; ऐसा मानना चाहिये।

अन्तराले तु शेषाः स्युरुपास्यादौ च

* **सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।**
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।

काण्डत्वात्॥ ५८॥

५८—(गीता ९। १३ से लेकर ९। २९ तकके) बीचमें (९ वें अध्यायके १४, १५, २२, २५, २६, २७, २८ इन श्लोकोंमें) जो कीर्तन, भजनार्थ यतन, व्रत, नमस्कार, ज्ञानयज्ञ, ध्यान, याग (पूजा), दान, सर्वकर्मार्पण आदि शेष गौणी भक्तियोंका श्रवण होता है, वे सब-की-सब पराभक्तिकी ही अङ्गभूत हैं। केवल ये ही नहीं, **'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'** इत्यादि वचनोंद्वारा उपासना आदिमें गृहीत जो साधन हैं, वे भी पराभक्तिके अङ्ग हैं; क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्मकाण्ड भक्तिकाण्ड (भक्ति और उसके साधनोंका प्रतिपादक)-रूप ही है।

ताभ्यः पावित्र्यमुपक्रमात्॥ ५९॥

५९—इन गौणी भक्तियोंद्वारा पवित्रता (पापक्षयपूर्वक अन्त:करणकी शुद्धि) होती है; क्योंकि नवें अध्यायके प्रारम्भ (गीता ९। २)-में **'पवित्रमिदमुत्तमम्'** कहकर इन सबको पवित्र बताया गया है।

तासु प्रधानयोगात् फलाधिक्यमेके॥ ६०॥

६०—पूर्वोक्त कीर्तन आदि साधनोंमें जो प्रधान भक्तिका योग बताया गया है, उससे सिद्ध होता है कि पराभक्तिसे युक्त मनुष्य यदि नमस्कार-कीर्तन आदि करे तो अधिक फलकी प्राप्ति होती है—ऐसा किन्हीं-किन्हीं आचार्योंका मत है।

नाम्नेति जैमिनिः सम्भवात्॥ ६१॥

६१—आचार्य जैमिनिका मत है कि 'भक्ति' का नामतः प्रयोग होनेसे समानाधिकरण अन्वय सम्भव है, इसलिये भक्तिपूर्वक कीर्तनसे पराभक्ति प्राप्त करे; इतना ही अभिप्राय है, उससे अधिक फलकी कल्पना नहीं करनी चाहिये।

अत्राङ्गप्रयोगाणां यथाकालसम्भवो गृहादिवत्॥ ६२॥

६२—यहाँ पराभक्तिके साधनभूत कीर्तन-श्रवण आदि अनुष्ठान यथासमय हो सकता है; जैसे गृह आदि निर्माण करनेके लिये यथासमय तृण, काष्ठ आदिका संग्रह किया जाता है। (पहले तृण लाया जाय या काष्ठ आदि, इसका आग्रह नहीं होता; उसी प्रकार पहले कीर्तन हो या श्रवण आदि इसका आग्रह

न रखकर जब जो साधन सम्भव हो, करना चाहिये।)

ईश्वरतुष्टेरेकोऽपि बली॥ ६३॥

६३—पूर्वोक्त कीर्तन आदि साधनोंमें एकका भी विशेषरूपसे अनुष्ठान करनेपर वही परमेश्वरको संतुष्ट करके बलवान् (पराभक्तिकी प्राप्ति करानेमें समर्थ) हो जाता है।

अबन्धोऽर्पणस्य मुखम्॥ ६४॥

६४—भगवान्‌को समर्पित किया हुआ कर्म अपना शुभाशुभ फल देनेमें असमर्थ होनेके कारण बन्धनकारक नहीं होता। उसकी वह अबन्धकता ही पराभक्तिकी प्राप्तिका द्वार है।

ध्याननियमस्तु दृष्टसौकर्यात्॥ ६५॥

६५—ध्यानका नियम इसलिये बताया जाता है कि उसके द्वारा ध्येयके स्वरूपमें चित्त भलीभाँति लगे; यही ध्यानका दृष्ट फल है और इसीकी सुविधाके हेतु उसका नियम बताना आवश्यक है।

तद्यजिः पूजायामितरेषां नैवम्॥ ६६॥

६६—''(गीता ९। २५) **'यान्ति मद्याजिनोऽपि**

माम्' इस वाक्यमें जो 'यज' धातुका प्रयोग है, वह अग्निष्टोम आदि यज्ञोंका वाचक है या अन्य किसी अर्थका?'' इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं, वहाँ 'यज' धातु पूजा-अर्थमें है। इतर यज्ञ-यागादिकोंमें 'यज' धातु पूजाके अर्थमें नहीं प्रयुक्त हुआ है।

पादोदकं* तु पाद्यमव्याप्तेः॥ ६७॥

६७—'पादोदक' शब्द पाद्य (पाँव पखारनेके उद्देश्यसे भगवान्‌को अर्पित किये जानेवाले जल)-के अर्थमें प्रयुक्त होता है; 'साक्षात् चरणोंका जल' अर्थ करनेपर अव्याप्तिदोष होगा; क्योंकि साक्षात् भगवच्चरणोंका जल सुलभ नहीं है।

स्वयमर्पितं ग्राह्यमविशेषात्॥ ६८॥

६८—'भगवान्‌को निवेदित की हुई वस्तु वैष्णवको देनी चाहिये' यह नियम है। प्रत्येक वैष्णव भक्तको अपने द्वारा भगवान्‌को निवेदित किये हुए नैवेद्य आदिका प्रसाद ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि विष्णुभक्त होनेसे वह भी उसका अन्य वैष्णवोंके समान ही

* **पादोदकं भगवतः प्रपुनाति सद्यः।**
(नृ० पु० ५९। ६४)

अधिकारी है।

निमित्तगुणाव्यपेक्षणादपराधेषु व्यवस्था॥ ६९॥

६९—पूजाके जो अनेक अपराध बताये गये हैं, उनमें निमित्त, गुण और अनपेक्षाके अनुसार व्यवस्था होती है। (कहीं किसी निमित्तसे, कहीं गुण (स्वभाव)-से और कहीं अनिच्छासे अपराध बनते है; इनमें अनिच्छापराधसे निमित्तापराध और उससे भी गुणापराध भारी है।)

पत्रादेर्दानमन्यथा हि वैशिष्ट्यम्॥ ७०॥

७०—(गीता ९। २६)-के अनुसार पत्र-पुष्प आदिसे उपलक्षित सब प्रकारका दान, जो भगवान्‌के उद्देश्यसे किया गया हो, पराभक्तिका अङ्ग है। यदि ऐसा न माने तो केवल पत्र, पुष्प, फल और जल—इन चार वस्तुओंसे विशिष्ट दान ही भक्तिका अङ्ग होगा।

सुकृतजत्वात् परहेतुभावाच्च क्रियासु श्रेयस्यः॥ ७१॥

७१—पूर्वोक्त गौणी भक्तियाँ पूर्व-पुण्यके फलरूपसे प्राप्त होती हैं और पराभक्तिकी प्राप्तिमें सहायक होती

हैं; इसलिये वे समस्त क्रियाओंमें कल्याणकारिणी होती हैं।

गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम्॥ ७२॥

७२—गौण भक्तिके तीन भेद हैं—आर्त-भक्ति, जिज्ञासा-भक्ति, अर्थार्थिता-भक्ति। ज्ञान-भक्ति तो पराभक्तिरूप है; उसके साथ पूर्वोक्त तीन भक्तियोंका उल्लेख उनकी स्तुति (प्रशंसा)-के लिये किया गया है।

बहिरन्तरस्थमुभयमवेष्टिसववत्॥ ७३॥

७३—स्मरण-कीर्तन आदि साधन बाहर रहकर स्वतन्त्र और पराभक्तिके साधनरूपसे भीतर रहकर परतन्त्र भी होते हैं। इस प्रकार वे उभयरूप हैं। ठीक उसी तरह, जैसे अवेष्टि याग तथा बृहस्पति-सव कहीं राजसूय और वाजपेयके अङ्गरूपमें भी उपलब्ध होते हैं तथा कहीं प्रधानरूपमें भी रहते हैं। ('यज्ञमें जो प्रमादवश त्रुटि रह जाती है, वह विष्णुके स्मरणसे ही पूर्ण होती है' इत्यादि वचनोंद्वारा स्मरण-कीर्तन आदिकी प्रधानता ही सूचित होती है।)

स्मृतिकीर्त्योः कथादेश्चार्तौ प्रायश्चित्त-भावात्॥ ७४॥

७४—स्मरण, कीर्तन, कथा-श्रवण, नमस्कार आदि साधन आर्त-भक्तिमें प्रयश्चित्तरूपसे कहे गये हैं।*

भूयसामननुष्ठितिरिति चेदाप्रयाणमुप-संहारान्महत्स्वपि॥ ७५॥

७५—यदि कहें, 'आर्त-भक्तिके द्वारा जो अपने बड़े-बड़े पापोंके नाशके लिये बहुत-से क्लेशसाध्य श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान नहीं हो रहा है, तब तो कीर्तन आदि लघु साधनोंद्वारा उसके लघु पापोंका ही क्षय हो सकता है, बड़े भारी पातकोंका नहीं।' तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि उसके लिये आमरण भगवत्स्मरणकी† विधिका उपसंहार देखा जाता है।

* **प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै।**
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥
(वि० पु० २। ६। ३७)

† **तस्मादहर्निशं विष्णुं संस्मरन् पुरुषो मुने।**
न याति नरकं मर्त्यः संक्षीणाखिलपातकः॥
(वि० पु० २। ६। ४३)

अतः बड़े भारी पातकोंको दूर करनेमें भी वह स्मरण-कीर्तन आदि समर्थ है।

लघ्वपि भक्ताधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात्॥ ७६॥

७६—एक बारका किया हुआ स्मरण-कीर्तन आदि लघु होकर भी बड़े-बड़े पातकोंको नष्ट करनेमें समर्थ होता है; क्योंकि भक्तके लिये भगवत्स्मरण या भगवच्छरणागतिके सिवा, अन्य सब प्रायश्चित्तोंके त्यागकी विधि है*।

तत्स्थानत्वादनन्यधर्मः खले बालीवत्॥ ७७॥

७७—स्मरण-कीर्तन आदिको पापके प्रायश्चित्तभूत कृच्छ्र-चान्द्रायणादि व्रतके स्थानमें प्रतिष्ठित किया गया है; अतः उसके द्वारा पापोंका नाश तो होगा ही; परंतु अन्य प्रायश्चित्तोंमें जो मुण्डन आदि करानेकी विधि है, उन सब इतर धर्मोंका पालन कीर्तनादिपरायण भक्तके लिये आवश्यक नहीं रह जाता है; जैसे खलिहानके मेहको यज्ञयूपके रूपमें व्यवहारमें लानेपर

* **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

उसमें पशुको बाँधा तो जाता है, परन्तु यूपके लिये आवश्यक मानी जानेवाली अन्य विधियोंका अनुष्ठान वहाँ आवश्यक नहीं समझा जाता है।

आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत्॥ ७८॥

७८—भक्तिमें उच्च जातिसे लेकर चाण्डालादि नीच जातितकके मनुष्योंका समानरूपसे अधिकार है; ठीक उसी तरह जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सामान्य धर्मोंके ज्ञान और अनुष्ठानमें सबका समान अधिकार है; गुरु तथा शास्त्रोंके उपदेशकी परम्परासे यही बात सिद्ध होती है।

अतो ह्यविपक्वभावानामपि तल्लोके॥ ७९॥

७९—अत: इस लोकमें जिनकी पराभक्ति परिपक्व (सिद्ध) नहीं हुई है, उनके द्वारा भी भगवान्‌के (श्वेतद्वीप आदि) लोकमें रहकर भक्तिसाधनका अनुष्ठान किया जाता है, यह बात इतिहास-पुराणोंमें सिद्ध होती है।*

* **क्षीरोदधेरुत्तरत: श्वेतद्वीपो महाप्रभ:।**
तत्र नारायणपरा मानवाश्चन्द्रवर्चस:।
एकान्तभावोपगतास्ते भक्ता: पुरुषोत्तमम्॥
(महा० शान्ति०, मोक्ष० ३३६। २७-२८)

क्रमैकगत्युपपत्तेस्तु॥ ८०॥

८०—ऐसा माननेसे ही क्रम-गति और एक-गतिका प्रतिपादन करनेवाले वचनोंकी संगति होती है। (अर्थात् जिनकी भक्ति परिपक्व नहीं है, वे क्रमश: भिन्न-भिन्न लोकोंमें होते हुए अन्तमें परिपक्वावस्थामें पहुँचनेपर भगवान्‌को प्राप्त होते हैं और जो यहीं पराभक्तिमें परिपक्व हो चुके हैं, वे अन्य किसी गतिको न प्राप्त होकर एकमात्र भगवान्‌को ही प्राप्त करते हैं; ऐसा सिद्धान्त स्वीकार करनेपर ही ये उभयविध गतिके प्रतिपादक वचन संगत होते हैं।)

उत्क्रान्तिस्मृतिवाक्यशेषाच्च॥ ८१॥

८१—गीता अध्याय ८ श्लोक १० से १३ तक जो उत्क्रान्ति (देहत्याग)-के पश्चात् प्राप्त होनेवाली परमगतिका वर्णन आया है, उसके वाक्यशेषमें (अर्थात् ८। २४ में) क्रममुक्तिका प्रतिपादन किया गया है; इससे भी यही सिद्ध होता है कि परिपक्व भक्तिवाले पुरुषको अनन्य गति (केवल भगवान्)-की प्राप्ति होती है और अविपक्व भक्तिवालेको

क्रममुक्ति मिलती है।

महापातकिनां त्वार्तौ॥ ८२॥

८२—(यदि चाण्डाल-योनितकके मनुष्योंका भक्तिमें अधिकार है, तब तो महापातकी मनुष्योंका भी उसमें अधिकार हो सकता है। इसके उत्तरमें कहते हैं—) जिनके द्वारा पतनके हेतुभूत महापातक बन गये हैं, ऐसे लोगोंका केवल आर्त-भक्तिमें ही अधिकार है और किसीमें नहीं। (उसके द्वारा पापनिवृत्ति हो जानेपर सब प्रकारकी भक्तिमें अधिकार हो जाता है।)

सैकान्तभावो गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात्॥ ८३॥

८३—भगवान्‌के प्रति एकान्तभाव (अनन्य प्रेम) ही वह पराभक्ति है, यह बात गीताके ९। २२; ६। ३०; ९। ३४; ११। ५५; १२। ६ आदि वचनोंके अर्थपर विचार करनेसे सिद्ध होती है।

परां कृत्वैव सर्वेषां तथा ह्याह॥ ८४॥

८४—पराभक्तिकी प्राप्ति करके ही कीर्तन आदि गौण भक्ति-साधनोंका मुक्तिमें उपयोग होता है;

अर्थात् वे मुक्तिके साक्षात् साधन नहीं हैं, पराभक्तिको उपलब्ध कराकर ही उसके द्वारा मोक्षप्राप्तिमें कारण बनते हैं। ऐसा ही भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं।*

द्वितीय आह्निक सम्पूर्ण

द्वितीय अध्याय सम्पूर्ण

* गीतामें भगवान्‌का वचन है—
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशय:॥
(१८। ६८)

तृतीय अध्याय

प्रथम आह्निक

भजनीयेनाद्वितीयमिदं कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात्॥ ८५॥

८५—यह सम्पूर्ण विश्व भजनीय—भगवान्‌से अभिन्न है; क्योंकि सब कुछ उनका ही स्वरूप है।

तच्छक्तिर्माया जडसामान्यात्॥ ८६॥

८६—भगवान्‌की ऐश्वर्यशक्तिका नाम माया है। वह माया भी भगवान्‌से भिन्न नहीं है; क्योंकि जैसे अन्य जडतत्त्व भगवत्स्वरूप हैं, वैसे यह माया भी है।

व्यापकत्वाद्व्याप्यानाम्॥ ८७॥

८७—भगवान् सच्चिदानन्दस्वरूपसे सबमें व्यापक हैं; व्याप्य वस्तुएँ व्यापकका स्वरूप होती हैं; अत: कुछ भी भगवान्‌से भिन्न नहीं है।

न प्राणिबुद्धिभ्योऽसम्भवात्॥ ८८॥

८८—(इस संसारकी सृष्टि बुद्धिपूर्वक हुई है—

सोच-समझकर की गयी है; यह बात इसकी सूक्ष्मता, सृष्टिक्रम, उपयोगिता एवं व्यवस्थाको देखते हुए प्रतीत होती है; तो क्या किसी जीवकी बुद्धिसे इस जगत्‌का निर्माण हुआ है? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—) नहीं, प्राणियोंकी बुद्धिसे जगत्‌की सृष्टि नहीं हुई है; क्योंकि जीवकी स्वल्प बुद्धिके लिये यह असम्भव है (अत: ईश्वर ही इसके स्रष्टा हैं)।

निर्मायोच्चावचं श्रुतीश्च निर्मिमीते पितृवत्॥ ८९॥

८९—ऊँच-नीच अथवा स्थूल-सूक्ष्म भेदवाले समस्त दृश्य-प्रपञ्च एवं प्राणिवर्गको उत्पन्न करके भगवान् उन्हें हिताहितका परिज्ञान करानेके लिये वेदोंका भी निर्माण (प्राकट्य) करते हैं। ठीक वैसे ही, जैसे पिता पुत्रोंको उत्पन्न करके उन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान करानेके लिये शिक्षाकी व्यवस्था करता है।

मिश्रोपदेशान्नेति चेन्न स्वल्पत्वात्॥ ९०॥

९०—यदि कहें, 'वेदमें धर्ममय यज्ञ-यागादिके

साथ कहीं-कहीं हिंसात्मक यागोंका भी उपदेश देखा जाता है; अत: अधर्ममिश्रित धर्मका उपदेश देनेके कारण ईश्वर पिताके समान हितकारी नहीं हैं' तो यह धारणा ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसी बातें बहुत थोड़ी हैं और वह भी हिंसकोंकी बढ़ी हुई हिंसावृत्तिको उन-उन यज्ञोंमें ही सीमित करके धीरे-धीरे कम करनेके लिये ही वैसी बातें कही गयी हैं। (वास्तवमें तो हिंसाका निषेध ही वेदका अभीष्ट मत है।)*

फलमस्माद्बादरायणो दृष्टत्वात्॥ ९१॥

९१—कर्मोंका फल ईश्वरसे ही प्राप्त होता है स्वत: नहीं; क्योंकि लोकमें ऐसा ही देखा गया है। (जैसे कोई अपने कार्यद्वारा राजा आदिको संतुष्ट करता है तो पुरस्कार पाता है और दुर्व्यवहारसे उसे रुष्ट करता है तो दण्डका भागी होता है; इसी प्रकार ईश्वर ही शुभाशुभ कर्मोंका सुख-दु:खरूप फल देते हैं।) यह बात भगवान् वेदव्यासने (उत्तरमीमांसा—ब्रह्मसूत्र १। १। २ में) कही है।

* वेदका उपदेश है—'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि'—किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे।

व्युत्क्रमादप्ययस्तथा दृष्टम्॥ ९२॥

९२—विपरीत क्रमसे भूतोंका अपने कारणमें लय होता है, ऐसा ही देखा गया है। (घट फूटनेपर मिट्टीमें लीन होता है; इसी प्रकार प्रत्येक व्याप्य वस्तु अपनेमें व्यापक कारण-तत्त्वमें विलीन होती है; यथा पृथ्वीका जलमें, जलका अग्निमें, अग्निका वायुमें और वायुका आकाशमें लय होता है।)

प्रथम आह्निक सम्पूर्ण

द्वितीय आह्निक

तदैक्यं नानात्वैकत्वमुपाधियोगहाना-दादित्यवत्॥ ९३॥

९३—जीव और ईश्वरमें एकता है—दोनों एक हैं; उपाधिके संयोगसे उनमें नानात्वकी प्रतीति होती है और उपाधि भङ्ग होनेपर एकत्वका बोध स्पष्ट हो जाता है। ठीक उसी तरह, जैसे एक ही सूर्य जलसे भरे हुए भिन्न-भिन्न पात्रोंमें पृथक्-पृथक् प्रतिबिम्बित होनेपर अनेक-सा प्रतीत होता है; परंतु जलपात्ररूपी उपाधिके न रहनेपर वह पुनः एक ही रह जाता है।

पृथगिति चेन्न परेणासम्बन्धात् प्रकाशानाम्॥ ९४॥

९४—यदि कहें, जीवोंमें बद्ध-मुक्त आदिका भेद दिखायी देनेके कारण यह सिद्ध है कि जीव ईश्वरसे सर्वथा भिन्न हैं, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि स्वयंप्रकाश परमात्माके साथ उन्हींके प्रकाशस्वरूप जीवोंका 'द्रष्टा-दृश्यके रूपमें' सम्बन्ध नहीं हो सकता। (अतः चैतन्य प्रकाशरूपसे सभी जीव ईश्वरसे अभिन्न हैं। बद्ध-मुक्त आदिकी कल्पना करनेवाली तो बुद्धि है, जो अज्ञानवश ऐसी कल्पना कर लेती है।)

न विकारिणस्तु करणविकारात्॥ ९५॥

९५—जीवोंमें ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि गुण या विकार होनेके कारण उन्हें विकारी कह सकते हैं, फिर अविकारी परमात्मासे उनकी एकता कैसी? इसके उत्तरमें कहते हैं; जीवात्मा विकारी नहीं है; क्योंकि सुख-दुःख आदि विकार तो अन्तःकरणसे सम्बन्ध रखते हैं, आत्मासे नहीं।

अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम्॥ ९६॥

९६—अनन्य भक्तिके द्वारा बुद्धिका आत्यन्तिक लय होनेसे परमात्माका साक्षात्काररूप बोध (या मोक्ष) प्राप्त होता है।

आयुश्चिरमितरेषां तु हानिरनास्पदत्वात्॥ ९७॥

९७—पराभक्ति सिद्ध होनेपर भक्तको भगवत्प्राप्ति या मुक्तिमें तभीतक विलम्ब है अथवा तभीतक वह जीवन्मुक्तावस्थामें रहता है, जबतक उसकी आयु (प्रारब्ध) शेष है; क्रियमाण और सञ्चित आदिके रूपमें जो अन्य शुभाशुभ कर्म हैं, जिनके कारण शरीर धारण करना पड़ता है, उन सबका लय हो जाता है; क्योंकि पराभक्तिसे जीवनके अदृष्टमात्रका लय होकर जब बुद्धिका भी आत्यन्तिक लय हो जाता है, तब

कर्मफलभोगका कोई आधार ही नहीं रह जाता है।

संसृतिरेषामभक्तिः स्यान्नाज्ञानात् कारणासिद्धेः॥ ९८॥

९८—जीवका संसारबन्धन भक्ति न होनेके कारण ही है (भगवान्की मायासे ही जीव बन्धनमें बँधे हैं, भक्त पुरुष ही उस मायाको जीतकर बन्धनमुक्त हो सकते हैं; अतः जबतक भक्तिका उदय नहीं होता, तभीतक बन्धन है)। अज्ञानसे जीव संसार-बन्धनमें पड़ा है, यह धारणा ठीक नहीं है; क्योंकि अज्ञानरूप कारणका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता है। (ज्ञानका सर्वथा अभाव किसीको नहीं होता है; कुछ-न-कुछ ज्ञान सभी जीवको रहता है, अतः बन्धनका कारण अज्ञान है—यह मान्यता भ्रमपूर्ण है।)

त्रीण्येषां नेत्राणि शब्दलिङ्गाक्षभेदाद्रुद्रवत्॥ ९९॥

९९—पदार्थ या वस्तु-तत्त्वको समझनेके लिये भगवान् शङ्करकी भाँति जीवोंके तीन भिन्न-भिन्न नेत्र (प्रमाण या साधन) हैं, शब्द (वेदादि शास्त्र एवं आप्तवाक्य), लिङ्ग (अनुमान) और प्रत्यक्ष।

आविस्तिरोभावा विकाराः स्युः क्रियाफलसंयोगात्॥ १००॥

१००—उत्पत्ति-विनाश आदि जो छः भावविकार हैं, वे आविर्भाव-तिरोभावरूप ही हैं—किसी स्थान या कालविशेषमें एक वस्तुका प्रकट होना और उसका छिप जाना ही उन विकारोंका स्वरूप है; क्योंकि उनके द्वारा क्रियाफलका संयोगमात्र होता है, किसी नूतन वस्तुकी उत्पत्ति नहीं। उत्पत्ति क्रियाका फल है प्रकट होना, विनाशका फल है अदृश्य होना; इन क्रिया-फलोंका स्थान या कालविशेषसे जो संयोग होता है, उसीको उत्पत्ति या विनाश कहते हैं। इसी प्रकार वृद्धि-क्षय आदि विकार भी अवस्थाविशेषके प्रादुर्भाव और तिरोभावके ही सूचक हैं। (पराभक्तिसे तत्त्वज्ञानका उदय होनेपर विकारबुद्धिका लय हो जाता है और सर्वत्र परमात्माका साक्षात्कार होने लगता है; अतः भक्तिका ही आश्रय लेना चाहिये।)

द्वितीय आह्निक सम्पूर्ण

तृतीय अध्याय सम्पूर्ण

शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र सम्पूर्ण